अर्ध विराम

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

मुनि रूपचन्द्र

अर्धविराम

मूल्य : तीन रुपये पचास पैसे
प्रथम संस्करण, १९६९

० ०

प्रकाशक
आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान)

मुद्रक : रूपक प्रिन्टर्स, दिल्ली-३२

भूमिका

एक पूर्ण अर्थ की खोज में शब्दों के जंगल में भटक रहे हैं हम! पहाड़ी पगडंडियों पर घूमते-घामते हम कुछ अपूर्व दृश्यों में से गुजर रहे हैं। मधुर संगीत करते हुए जल-प्रपात, चौकड़ियां भरते हुए हरिण, वृक्षों की डालों पर उलझी-बिखरी वन-लताएं और आसमान को छूती हुई पर्वत की उत्तुंग चोटियां। किन्तु इन सबने आज हमारे लिए अपना अर्थ खो दिया है। क्षण-भर के लिए मन-बहलाव अवश्य कर सकते हैं इनसे हम, पर वह क्षण हमारे पास रह कहां गया है?

आज हमारे मूल्य भिन्न हैं और हमारी आस्थाएं भिन्न हैं। और हमारी आस्था के समक्ष एक तीव्र प्रश्न-चिह्न है। उस प्रश्न-चिह्न को हटाने की मैं आवश्यकता अनुभव नहीं करता। इतना अवश्य अनुभव करता हूं, आज तक लिखे जा रहे इस लम्बे वाक्य में हम एक अर्ध-विराम लगाकर देखें तो सही, क्या यह वाक्य सचमुच प्रश्न-चिह्न की ओर ही तो जा रहा है?

उटकमंड —मुनि रूपचन्द्र

२२ अप्रैल, १९६९

अनुक्रम

अफसोस

एक आवाज
जहां कहीं खड़ा होकर
सुनने लग जाता हूं मैं,
और लोग समझते हैं—
मैं पिए हुए हूं।

एक रूप
जहां कहीं खड़ा होकर
देखने लग जाता हूं मैं,
और लोग समझते हैं—
मैं नशे में हूं।

एक बूंद
जहां कहीं खड़ा होकर
पीने लग जाता हूं मैं
और लोग समझते हैं—
मैं होश खो चुका हूं।

एक गन्ध
जहा कही खड़ा होकर
सूंघने लग जाता हूं मैं,
और लोग समझते हैं—
मैं कोई सनक में डूबा हूं।

एक स्पर्श
जहा कहीं खड़ा होकर
जिसके लिए बांहें पसार देता हूं मैं,
और लोग समझते हैं—
मैं पागल हूं।
और मुझे अफसोस यही है,
अभी तक कहां हो पाया हूँ मै ?

महासागर

अनन्त जल-राशि को अपने में समेटे यह महासागर
अनन्त रत्न-राशि को अपने में बटोरे यह महासागर
इसके किनारे खड़े होकर
तुम इसे दरिद्र कह सकते हो
शंख और सीपियाँ बीन-बीनकर
तुम इसे छिछला कह सकते हो
उछलती-मचलती लहरों को गिन-गिनकर;
और फिर तुम
अपनी समस्त घृणा और विद्वेष के साथ
इसमें कंकर-पत्थर फेंक सकते हो,
थूक सकते हो,
गालियाँ दे सकते हो,
पैर पटक-पटककर इसे कोस सकते हो,
इसकी भोली बेटियों को
जाल में फँसाकर
अपने आक्रोश और खीज का बदला ले सकते हो,
और इसके मौन का उपहास करते हुए
शहर भर का कूड़ा-कर्कट,
मैले का ढेर

इसके सिर पर डाल सकते हो;
लेकिन इससे
इसमें कोई फर्क नहीं आने वाला है,
फर्क तुम्हारे मे,
हाँ, केवल तुम्हारे में ही…?

एक सार्थक आभास

आसपास गूंजती हुई हजारों आवाजों के बीच
भुला देना चाहता हूँ एक आवाज को
लेकिन लगता है—
हर आवाज में उसी आवाज के कारण एक अर्थ है।

आसपास से गुजरते हुए हजारों चेहरों के बीच
भुला देना चाहता हूँ एक रूप को
लेकिन लगता है—
हर चेहरे में उसी रूप के कारण एक आकार है।

आसपास की धरती को सरस बनाने वाली हजारों बूंदो के बीच
भुला देना चाहता हूँ एक बूंद को,
लेकिन लगता है—
हर बूंद में उसी बूंद के कारण रस है।

आसपास मुसकराते हुए हजारों फूलों के बीच
भुला देना चाहता हूँ एक गन्ध को
लेकिन लगता है—
हर फूल में उसी गन्ध के कारण एक मुसकराहट है।

आसपास गुदगुदाने वाले हज़ारों स्पर्शों के बीच
भुला देना चाहता हूँ एक स्पर्श को,
लेकिन लगता है—
हर स्पर्श में उसी स्पर्श के कारण एक गुदगुदाहट है।

और मैं असमंजस मे पड़ जाता हूँ—
क्या मैं किसी का अर्थ,
आकार,
रस,
मुसकराहट
और गुदगुदाहट छीन सकूँगा ?

स्वामिभक्त बैल

आज बाजार में सर्वत्र
उस स्वामिभक्त बैल की बड़ी चर्चा थी
जिसने अपने मालिक का भार ढोते हुए
हँसते-हँसते दम तोड़ दिया था;
लोग कह रहे थे—
बड़ा सीधा था बेचारा
बिना भूख और प्यास की परवाह किए
जो उम्र भर अपने मालिक के इशारे पर दौड़ता रहा
और मरे पशुओं के हड्डियों के ढेर से लेकर
शराब की छलछलाती हुई बोतलें,
अफीम, गाँजा…
तस्कर में खरीदी हुई घड़ियाँ, ट्राजिस्टर…
भगाई हुई लड़कियाँ…
जो कुछ भी गाड़ी में लादा गया
भौहों में बिना कोई विकार लाए
आँधी और तूफानों की छाती को चीरते हुए
वह उसे मंजिल तक पहुंचाता रहा,
अपने प्राणों को संकट में डालकर भी
कानून के शिकंजों से मालिक को बचाता रहा

लेकिन कभी जुआ उतार फेंकने का
उसने गुनाह नहीं किया
और अपनी आहों को
आँखों और होंठों के भीतर ही भीतर पीते हुए
उसने किसी को यह महसूस नहीं होने दिया
कि उसके भीतर भी कोई विद्रोह का
ज्वालामुखी भभक रहा है
कि उसके भीतर भी कोई तूफान मचल रहा है
जो इस जर्जर बेड़े को एक ही थपेड़े में ध्वस्त कर देना चाहता है
अपनी भूखी अंतड़ियों को दुहरी होते देखकर भी
न्याय, सचाई और ईमानदारी के मूल्यों को रोते देखकर भी
सदा वह मालिकीय मूल्यों की प्रशंसा करता रहा
उसकी प्यारभरी थपकी और पुचकार
का बखान करता रहा
और अहर्निश मंजिलों पर मंजिलें तय करता रहा
दौड़ता रहा
दम टूटने तक दौड़ता रहा,
और सहानुभूति के स्वरों में
आज इसी बात की चर्चा थी बाजार में—
बड़ा स्वामिभक्त था बेचारा

विनाश : निर्माण

और हमें इस मकान को तोड़ना ही होगा
जानता हूँ मैं,
नया मकान नहीं है हमारे पास रहने के लिए,
ठिठुरती सर्दी और बरसात
हमें खुले में ही सहना होगा,
चिलचिलाती धूप में भी
हमें खुले आकाश के नीचे ही रहना होगा,
लेकिन फिर भी हमें इस मकान को तोड़ना ही होगा
शायद तब हम
नए मकान के प्रति अधिक ईमानदार बन सकेंगे
उसके लिए अधिक मेहनत और लगन से काम कर सकेंगे
नहीं तो फिर
इस मकान की ईंट-ईंट से हमारा इतना मोह हो गया है,
इसकी अन्धी सीढ़ियाँ
सीलन भरे कमरे,
टपकती हुई छतों से भी इतना व्यामोह हो गया है
और उस व्यामोह के कारण
हर दूसरे मकान के प्रति मन में इतना विद्रोह हो गया है
कि हम इसे तोड़ नहीं सकेंगे

और जब तक यह हमें नहीं छोड़ दे,
हम इसे छोड़ नही सकेंगे
और जब हमें लोग
इसके मलवे के ढेर में से निकालेंगे
तब तक या तो हम मर चुके होंगे
या फिर हम अपना होश खो चुके होगे;
और उस वेहोशी की हालत में भी
हमारा इस मकान पर से प्यार कम नहीं हो जाएगा
उस मलवे में गडा हुआ संस्कार कम नही हो जाएगा
हम फिर नया मकान बनाते समय
उन्ही सडी-गली ईंटों को,
बूढ़े हो गए पत्थरों को
उसकी नीव में भरने की कोशिश करेंगे
उसी मलवे की दीवार बनाकर
उस पर सीमेंट का पलस्तर करने की कोशिश करेंगे
और इस प्रकार फिर
हम मोह के विषधर को
दूध पिलाने की कोशिश करेंगे
फिर अपने मुर्दे को
कृत्रिम सांसों से जिलाने की कोशिश करेंगे
इससे क्या यह अच्छा नही ?
हम इस झूठे मोह को छोड़ दें ?
और अब
जबकि समय आ गया है
इस मकान को हम अपने ही हाथों तोड़ दे ?

कवि की आत्महत्या

मुझे इसमें कोई आश्चर्य नहीं
और न कोई दुःख भी
अखबार के एक उपेक्षित कोने में यह समाचार पढ़कर—
बेचारे कवि ने जीवन से ऊबकर
आत्महत्या कर ली
        कल रात में, लहरों में डूबकर;
मैं तो कहूँगा,
उसने कोई बुरा नही किया
सिवाय इसके कि
वह दिन के उजाले में
एक बड़ी भीड़ के सामने डूबने का साहस नहीं कर सका
और इसी क्लीवता ने ही उसको
असफल जीवन का करार दे दिया था
जिसने अपनी लाश बचाने
अपने अस्तित्व को नोच-नोचकर
कुत्तों के सामने डालते कभी संकोच महसूस नही किया
अपने पड़ोसी का गधा उधार लेकर
        छापाखाने का चक्कर लगाते-लगाते
        अपने को यह महसूस नही होने दिया
        कि मैं स्वयं में गधा बनता जा रहा हूँ

और फिर रचनाओं की अस्वीकृति के साथ
जी भर कोसा था उसने
पत्र को, सम्पादक को
नई पीढ़ी को पदस्थ न करने के अभियोग में
और ईमानदारी के नाम पर
सदा उसने जब
बेईमान क्षणों को जुबां देकर
लोगों को गुमराह करने की कोशिश की थी
युयुत्सा और जुगुप्सा के नए नारे बुलन्द करते हुए
उस समय यदि तुम्हें
उसके जीने पर कोई आश्चर्य नहीं हो रहा था
तो अब मुझे इसमें कोई आश्चर्य नहीं,
अखबार के एक उपेक्षित कोने में यह समाचार पढ़कर—
होनहार कवि ने जीवन से ऊबकर
आत्महत्या कर ली
कल रात में—
लहरों में डूबकर !

समझदार आदमी

अपने सारे कीमती वस्त्र उतार-उतारकर
उसने फेंक दिए कूड़े-करकट के ढेर पर !
और तब से वह नंग-धड़ंग
चक्कर लगाता रहता शहर की चक्करदार गलियों में
फ़ालतू कागज, फटे-टूटे कपड़ों को बटोरते हुए;

और वह जहाँ भी जाता;
बच्चों की एक बड़ी सेना उसके पीछे हो जाती;
वह उन्हें प्यार-भरी निगाहों से देखता,
बच्चे डरकर भाग जाते;
और फिर वह सहमा-सहमा
पढ़ने की कोशिश करता रहता
उन बच्चों का कुण्ठा भरा भविष्य
जिनको एक बड़ी-सी दीवार पर
कीलों और खूंटियों की तरह ठोकने की कोशिश
की जा रही है;
और जिनको वातानुकूलित कमरों में
अभी से ही
पंखों और ट्यूब-लाइट्स की तरह
अपनी मनपसन्द जगहों पर लटकाने की कोशिश
की जा रही है;

और जिन्हें आत्महत्या के लिए अभी से विवश किया जा रहा है
और अन्तिम साँसें लेती
जिनकी अ-मृत लाशों पर
अभी से कौवे और चील और गीध मंडरा रहे हैं;
और उन लाशों को अपना माँस नोचा जाना पसन्द है
क्योंकि उनमें ठूंस दिया गया है यह विचार
कि इसी में एक स्वर्गीय आनन्द है;
और फिर उसे लगता कि
इससे आगे चिन्तन के सब दरवाजे बन्द हैं;

और फिर वह फफक-फफककर रो पड़ता
और उसके आसपास
पढ़े-लिखे समझदार लोगों की
एक अच्छी-खासी भीड़ जमा हो जाती;
तब वह अपने आँसू पीते हुए
बड़ी ही घृणा और तिरस्कार के साथ
उस भीड़ पर थूकता हुआ,
        गालियाँ देता हुआ
        धूल उछालता हुआ
        और मन ही मन हँसता हुआ
भाग जाता फिर चक्करदार गलियों में
फेंक दिए गए फालतू कागजों को बटोरने के लिए
उनमें लिखा नई पीढ़ी का भविष्य पढ़ने के लिए
फटे चीथड़ों को इकट्ठा कर लाज ढँकने के लिए
और पीछे से लोग आपस में फुसफुसाते—
        'बड़ा समझदार आदमी था,
        बेचारा पागल हो गया है।'

सम्बन्धों के सलीब पर

जब भी मैं बालकनी में खड़ा होकर चौराहे को देखता हूँ,
मुझे ऐसा लगता है—
दौड़ते हुए रिक्शों की टनटनाती घंटियों के मिष
बेतहाशा भागती हुई कारों के हार्नों के मिष
मुझे कोई आमंत्रण दे रहा है कि
मैं आऊँ,
उसके पास बैठूँ,
सुख-दुःख की बात करूँ
और जीवन के उन मसलों पर उसके साथ चर्चा करूँ,
जिनके न होने से
        हमारा यह जीवन निभता नहीं है,
किन्तु होने से
        यह जीवन एक शल्य की भाँति रात-दिन चुभता है,
हमारी यह संस्कारों की दुनिया—
        कि एक तरह के देखने को 'पवित्र प्रेम' कहते है,
                दूसरी तरह को 'वासना'
                तीसरी को 'घृणा'
                चौथी को सदयता, करुणा
                पाँचवीं को खीज, आक्रोश,

फिर हमारी यह सम्बन्धों-रिश्तों की दुनिया —
कि हम माँ-बेटे है,
भाई-बहन हैं,
पति-पत्नी हैं,
फिर कुछ हमारे दोस्तहैं,
कुछ दुश्मन है,
किसी से हम प्यार करते हैं,
किसी से घृणा करते हैं
और हमने प्रेम और मित्रता का विज्ञापन करने वाले
बड़े-बड़े ग्रन्थ रच डाले हैं,
उनके आधार पर स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप,
आत्मा-शरीर, बन्धन-मोक्ष के मूल्यसरज डाले हैं;
घृणा को पाप मानकर दुत्कारा है,
दुश्मनी को अभिशाप मानकर तिरस्कारा है,
जबकि
प्यार के नाम पर खड़ी की गई ये मजबूत दीवारें
क्या घृणा के प्रासाद को थामे हुए ही नही हैं ?
दोस्ती के नाम पर खड़ी की गई गगनचुम्बी मीनारें
औरों को दुश्मन समझकर
उनसे सावधान रहने के सिगनल ही नहीं हैं ?
ये प्रेम और शान्ति के उपदेश
घृणा और युद्ध की आयतें ही नहीं है ?
और हमारी क्या ये आदतें ही नही हैं
कि घरों के नाम पर हम घेरों को बनाएँ,
दूसरे घेरों को गालियाँ दें,
और इस नये घेरे में भी अपना दम घुटता देखकर
फिर कोई दीवार खड़ी करें
उस पर रंग-बिरंगे आकर्षक इश्तिहार चिपकाएँ

और लोगों को बहकाएँ,
इसी उधेड़बुन में मुझे ऐसा एहसास होता है,
इन टनटनाती घंटियों के मिष
कानों को बहरा कर देने वाले हार्नों के मिष कोई कह रहा है–
क्या हम इन सम्बन्धों में बँधे बिना जी नहीं सकते ?
इन दीवारों और मीनारों को तोड़कर
क्या हम साँस नहीं ले सकते ?
इन थोपी हुई मान्यताओं की गरदन मरोड़कर
हम अपने पर ही विश्वास नहीं कर सकते ?
और उत्तर देने से पहले
मैं सोच लेना चाहता हूँ
इतना बड़ा गुनाह मैं कर सकूँगा ?

यथार्थ-बोध

नकली कुण्ठाओं के वस्त्र खींच-खींचकर
यह यथार्थ सृजन की बात
कितना बड़ा विश्वासघात !
मेरे दोस्त !
तुम मुझे कुण्ठाएँ दो,
अपनी नकाब रहित कुण्ठाएँ
और उनके असली चेहरे
        (मैं जानता हूँ,
        अब तुम्हें नकाब की जरूरत नहीं,
        अलग-अलग परिवेशों के संदर्भ में
        गढ़ना सीख लिया है तुमने अलग-अलग चेहरे)
जिनमें पीड़ा भले हो, टूटन नहीं हो
विद्रोह भले हो, घुटन नहीं हो
उन कुण्ठाओं को मैं भोगूँगा,
        उन्हें साँस-साँस जीऊँगा
        और फिर आएगा जो भी यथार्थ
                उसे
        साथियों के साथ बाँट-बाँटकर पीऊँगा
लेकिन यथार्थ-बोध के नाम पर
कश पीकर फेंक दिए गए

सिगरेट के अधजले टुकड़ों से
किसी ज्वालामुखी उभाड़ने का तुम्हारा विचार
मुझसे नहीं सहा जाएगा
और मेरे अस्तित्व से तब
विद्रोह किए बिना रहा जाएगा
यह देखकर कि
स्वतंत्रता का नारा बुलन्द करने वाली चिड़ियां
चुग रही हैं जूठे चावल के दाने
अहं की दुहाई देने वाले विषधर
चाट रहे हैं थूका हुआ पीक,
अस्तित्व-बोध का विज्ञापन करने वाले गुरिल्ले
निगल रहे हैं कै किए गए शब्द;
मेरे दोस्त !
उनसे फिर आग पाने की बात ?
और उस आग से ठिठुरते शरीर को
गरमाने की बात ?
—कितना बड़ा मजाक !
मैं कहता हूँ,
तुम मुझे दो अपनी वह कुंठा,
जो बन सके युद्ध की प्रेरणा
जीवन-यज्ञ में होमी जाने वाली समिधा
हम उसे चिनगारी बनकर जिएँ
और जो आए यथार्थ—
उसका एक-एक पुण्य क्षण
आपस में बाँट-बाँटकर पिएँ,
लेकिन क्या तुम्हारे में साहस है
अपनी कुण्ठाओं के प्रति
ईमानदार बने रहने का ?

एक सवाल

तुम मुझे सवाल के लिए उकसा रहे हो,
किन्तु तुम्हारे पास कोई जवाब भी है ?
मैं पूछता हूँ—
लाखों-करोड़ों के पेट की आग बुझाने वाले ये हाथ
दाने-दाने को तरसते हुए
अपन पेट पर पत्थर बाँधकर क्यों सो रहे है ?
लाखों-करोडों का नंगापन सजाने वाले ये हाथ
अपनी लाज ढँकने के लिए
चीथडे-चीथड़े के लिए सिसक-सिसककर क्यों रो रहे हैं ?
लाखों-करोड़ों को धूप, आँधी और बरसात से बचाने के लिए
दिन भर ईंट और गारा ढोने वाले ये कंकाल
गंदे नालों के किनारे बनी भुग्गी-झोपड़ियों
और फुटपाथों पर ही जिन्दगी क्यों काट रहे हैं ?
और इस शस्य-श्यामला धरती के अन्न-देवता
स्वयं अपनी भूख मिटाने के लिए
फेंकी हुई जूठी पत्तलें ही क्यों चाट रहे है ?
जिस देश ने लोकतंत्रीय व्यवस्था दी,
उसने अपने नागरिकों को समान-अधिकार भी दिए है ?
हर पन्द्रह अगस्त को धूमधाम से मनाने वाली जनता ने
क्या कभी आजादी के साँस भी जिए हैं ?

क्या हम झूठी मान्यताओं के किलों को
        आज तक भी तोड़ सके हैं ?
समाजवादी मूल्यों का ढोल पीटते हुए भी,
        साम्राज्यवादी मूल्यों को छोड़ सके हैं?
वही सामन्तशाही, वही बुर्जुआपन,
धर्म और पुण्य के नाम पर बढ़ावा पाने वाला भिखमंगापन,
हजारों-हजारों कंधों पर बैठकर
        निकलने वाली भगवान् की सवारी
मजहब के नाम पर राष्ट्र और प्रान्त
        और बड़ी-बड़ी दीवारें खड़ी करने की तैयारी,
जाति और भाषा के नाम पर
        आदमी से आदमी के दिल में घृणा भरना,
और फिर उसी के आधार पर
        हमारे शासन-तंत्र के प्रासाद को खड़ा करना,
काले और गोरे के भेद पर
        आदमी का आदमी के खून का प्यासा बनना
उधर अन्तरिक्ष में उड़ान, इधर यह नारकीयपन
उधर सह-अस्तित्व की बातें, इधर यह जंगलीपन
आजाद शरीर, गुलाम साँसें
पीड़ा, घुटन और आहों को ढोने वाली उसासें
चाहे इन सबको हमने नकारा हो,
        किन्तु समय पर इनको हमने ही जन्म दिया है
हँसती अदाओं से सूरज का अभिवादन करने वाली कली को
संस्कार-निर्माण के नाम पर
        हमने क्या उम्र भर गम नहीं दिया है ?
इन सब से जान-बूझ आँखें मूँदकर
        तुम मुझे सवाल के लिए उकसा रहे हो
                लेकिन इनका कोई जवाब भी है ?

अस्तित्व-बोध

अपने अस्तित्व-बोध के विरोध में
जिन्होंने बगावत की आवाज उठाई,
उन्हें कूट-पीटकर नींव में भर दिया गया
आवाज का समर्थन करने वालों को
लोहे के पटरों के नीचे दबा दिया गया
और उन पर
बिछाकर प्रशंसा और खुशामद की पटरियाँ
मेरा अस्तित्व
अपने अस्तित्व-बोध के विज्ञापन के लिए
दौड़ता रहा उन पर इधर-उधर,
एक अस्तित्व-बोध के लिए
कितने अबोध और निरीह प्राणों का
मृत्यु-बोध आवश्यक होता है ?

नगर : एक अनुभूति

अन्धे गलियारों में
जिनके साथ रोज़ खेलते थे
उजली सड़कों पर
उनकी सूरत पहचानी नहीं जाती;
यहाँ तो जाने-पहचाने हैं—
धुआँ,
कोलाहल
भीड़
प्रतिस्पर्धा
तनाव
और प्रवंचना—
औरों के साथ भी, अपने साथ भी;
क्या हम कोई शहर में आ गए हैं ?

परिभाषा

दिन—एक कठोर अभ्यास
रात—उस अभ्यास का उपहास करने वाली प्यास
सूरज—प्रतिस्पर्धा को उभारने वाली आग
चाँद—तनाव, ऐंठन और चमक भरा दाग
जीवन—एक अविश्रम चलने वाला संग्राम
मृत्यु—युद्ध-विराम की प्रतीक्षा में निःश्वास भरने वाला
अर्ध-विराम,
आदमी—अस्तित्व-बोध का झूठा अभिमान
जानवर—एक सीधा-सादा इन्सान ?

एक चुनौती

सारा शहर नशे में घुत्त !
लोग चीखते हुए
एक-दूसरे पर झपटते हुए
एक-दूसरे के कपड़े फाड़ते हुए
बालों को खींचते हुए, नोचते हुए
चौराहों पर
वस्त्र उतार-उतारकर अट्टहास करते हुए
नाचते हुए;
मंत्री ने सलाह दी राजा को
सोचने का अवसर नहीं—
भीड़ हो जाओ
घुत्त और बेभान
अपनी जान की सुरक्षा के लिए !
और आज भी
चौराहे पर
कौन हमारे अस्तित्व को चुनौती दे रहा है ?

हत्यारा सूरज

हत्यारा सूरज
पता नहीं,
कितने निरीह प्राणों को
तेज किरणों की मर्मान्तक चुभन देकर
छोड़ गया है,
रात भर तड़प-तड़पकर सिसकने के लिए;
लहरों ने उसे पकड़ा भी—
रँगे हाथों,
लेकिन कोई भी अखबार फोटो छापने का
साहस नहीं कर सका;
सारे ब्लॉक पानी में घुल-घुलकर डूब गए;
दूसरे दिन
अखबारों की बड़ी-बड़ी सुर्खियों में
सूरज के वीरता भरे दास्तन छपे थे;
क्या तसवीरबाजी हत्या का ही अंतिम शस्त्र नहीं ?

भीड़ और समझौता

भीड़ से अलग कट गया हूँ मैं
अब भी सुन सकता हूँ कसी जा रही आवाजों को
चीखें भी क्रमश: और तेज होती जा रही है,
और उस भीड़ के ओझल होने से पहले
फिर कोई भीड़ मेरी आँखों में आ गई है——
वही चीखे, वही आवाजे
और लोग टोपियाँ और जूते उछालते हुए
ढोल पीट रहे है——
अपने-अपने 'मेनिफॅस्टों' की उद्‌घोषणा करते हुए;
कितना अच्छा हुआ
मैं भीड़ से कट गया हूँ !
साथी मुझे फिर किसी भीड़ में शरीक होने का
आग्रह कर रहे हैं,
और मैंने शपथ ले ली है——
अब कोई भी भीड़ नही होने की,
यों इन भीड़ों का पता भी नही चला आज तक
ये किसी की बारात हैं
या किसी की शव-यात्रा ?
कोई खुशी का दिन मनाने जा रही हैं
अथवा है कोई हड़ताल?

न किसी को फ़ुर्सत भी है करने इसकी जांच-पड़ताल
सब ओर भद्दे नृत्य, सीटियाँ और बेसुरे ताल;
कोई आदमी नहीं चल रहा है इनमें,
भीड़ स्वयं चल रही है;
अपनी भूख और नंगेपन को 'सर्टिफ़िकेट' देने के लिए
वह उछल रही है, मचल रही है;
कितना अच्छा महसूस हो रहा है मुझे
मैं भीड़ से अलग कट गया हूं !
अपने अस्तित्व का बोध पाते हुए;
अपने अस्तित्व का बोध जताते हुए;
नहीं तो फिर आज भी
भीड़ से अलग कटने का मेरा इरादा नहीं है,
भीड़ एक समझौता है, वादा नहीं है।

भूल दुहराते रहे

बालू के टीलों पर
घरौंदे बनाते रहे
भूल दुहराते रहे।
सामने के मैदान में
चीखते हुए मिलों के भोंपुओं से
अनाथ बच्चे-सा कराहता हुआ शहर
शिकार की टोह में
इधर-उधर भटकते साँप की तरह
रेंगता हुआ शहर;
सभ्यता के नाम पर
चोट खाए गिरगिट-सा
रंग बदलता हुआ शहर;
नीम की छाँह तले
पसीना सुखाते रहे,
बालू के टीलों पर घरौंदे बनाते रहे,
क्या सचमुच ही
कोई भूल दुहराते रहे ?

संदर्भहीन जीवन

किसने कहा—
संदर्भहीन है हमारा यह जीवन !
हम तो एक साथ अनेक संदर्भों में जी रहे हैं
इसलिए सन्दर्भों से कटकर होने वाली अभिव्यक्ति
हमारी नहीं है,
बिल्कुल नहीं है;
हम जो हैं,
उसके स्वीकार में तनिक भी हमें संकोच नहीं है—
कि हमारे में ज्वालामुखी-सी भभकती हुई एक आग है,
उफनते-गरजते सागर-सा एक तूफान है,
लहरों पर मचलती चाँदनी-सा एक उन्माद है,
अभिसार के लिए व्याकुल यौवन-सा अल्हड़पन है,
नुची हुई विकृत लाश-सी भयंकरता है,
मांस नोचते हुए गिद्धों-सी क्रूरता है,
और गहरे-से-गहरे चुभ जाने वाला नुकीले काँच के
टुकड़े-सा हमारे में अहं है,
लेकिन क्या तुमने नहीं देखा,
हमारे में कुछ ऐसा भी है,
जो हमारी माँद के आसपास किसी को घूमते देखकर
गुर्राते हुए भी जल्दी से झपटता नहीं है,

झपटकर भी जल्दी-से नोचता नहीं है,
नोचकर भी यह सोचता है कि
सहानुभूति के स्वरों में पहले चीखे-चिल्लाए
और फिर किसी को आसपास न देखकर
उसको खाए;

और ऐसा भी कुछ है
कि भार ढोते बैलों पर तीखे चाबुकों का प्रहार देखकर
जिसे यह महसूस होता है कि
मेरी ही चमड़ी उधड़ती जा रही है,
हल खींचते कृशकाय कंकालों को देखकर
जिसे लगता है
मेरी ही अंतड़ियाँ दुहरी होती जा रही हैं;
और कैलेण्डरों की तरह टँगे
खून चूते माँस के लोथड़ों को देखकर
जो छटपटा उठता है कि
उसका ही माँस काटकर यहाँ लटका दिया है,
यह हमारा एक-दूसरे के प्रति जो बेलगाव प्यार है,
नही चाहते हुए भी एक-दूसरे से उखड़े हुए,
या एक-दूसरे में गड़े हुए जो संस्कार हैं,
उन सबसे फटकर
केवल इस क्षण——
भूत और भविष्य से नकारे हुए क्षण को
हम कैसे जी सकते है ?
व्योम-से अस्तित्व पर
सितारों-सी हमारी अनन्त-अनन्त अभिव्यक्तियाँ
इनको संदर्भहीन अस्तित्व की संज्ञा कैसे दे सकते है ?

चुभन का दायित्व

दिन-दिन भर
रात-रात भर
आकाश गरजता रहा,
आंधी और तूफान के साथ
पानी बरसता रहा,
माटी गल-गलकर वह गई
और सडक रह गई
केवल नुकीले पत्थरों का ऊबड़-खाबड़ ढाँचा
इस चुभन भरे जीवन का दायित्व
क्या अब सड़क पर है ?

सूरज को फाँसी

आज एक और सूरज को
फाँसी के तख्ते पर लटका दिया गया
अभियोग यह था उस पर कि
हमारे रोशनदानों, खिड़कियों और दरवाजों में जबर्दस्ती घुसकर
उसने अशिष्टता का परिचय दिया;
हमारी कामनाओं के रंगीन प्यालों-तश्तरियों को तोड़-फोडकर
उसने असभ्यता का परिचय दिया;
विलास में डूबे मिथुनों की क्रीड़ा में दखल देकर
उसने निर्लज्जता का परिचय दिया;
परदों में छिपी हमारी नग्नता को उघाड़कर
उसने अश्लीलता का परिचय दिया;
उसने हमारी इज्जत-आबरू को मिट्टी में मिलाया,
हमारी आस्थाओं पर चोट पहुँचाई,
चौराहे पर खड़े होकर
उसने हमारे अनुयायियों को गुमराह करने की कोशिश की,
इसकी बेतुकी हरकतों से
हमारे व्यापार को बहुत नुकसान पहुँचा,
हमारे सम्मान को धक्का लगा,
हमारे स्वाभिमान पर बहुत बड़ी ठेस लगी,

और भी कई अभियोग थे उस पर
कुंआरी संस्कृति को वरगलाने के,
चोरी के, बटमारी के
लेकिन सबसे बड़ा अभियोग यह था कि
उसने अंधेरे को रोशन करने की कोशिश की;
दिन-दहाडे घरों में, दफ्तरों में,
मन्दिरों में, गिरजाघरों में,
गली-गली, सड़क-सड़क और चौराहे-चौराहे पर
आग लगाने की कोशिश की;
इन सब अभियोगों के कारण
बिना कोई सुनवाई के
(शायद उसको कुछ कहना भी नहीं था)
एक बड़ी भीड़ के सामने
एक और सूरज को आज
फांसी के तख्ते पर लटका दिया गया,
और लोग कानों ही कानों बतियाते
जहां-तहां घुस गए मकानों में
अंधेरे का फायदा उठाने के लिए !

क्या करूँ ?

क्या करूँ मैं ऐसे ज्योतिर्मय सूरज को लेकर,
जो मुझे यह महसूस करने को विवश करे
कि मैं अंधा हूँ।

क्या करूँ मैं ऐसे अमृतमय चाँद को लेकर
जो मुझे यह महसूस करने को विवश करे
कि मैं ज्वालामुखी हूँ।

क्या करूँ मैं ऐसे लहरीले सागर को लेकर
जो मुझे यह महसूस करने को विवश करे
कि मैं रेगिस्तान हूँ।

क्या करूँ मैं ऐसे त्रैकालिक शास्त्रों को लेकर
जो मुझे यह महसूस करने को विवश करें
कि मैं बेवकूफ हूँ।

और क्या करूँ मैं ऐसे सर्वशक्तिमान भगवान को लेकर
जो मुझे यह महसूस करने को विवश करे
कि मैं पंगु हूँ।

मैं तो उस सूरज
उस चाँद
उस सागर
उस शास्त्र
और उस भगवान को स्वीकार सकता हूँ
जो मेरी ज्योति,
मेरी अमृतता,
मेरी सरसता,
मेरी ज्ञानवत्ता,
मेरी गतिमत्ता और शक्तिमत्ता को
यह कहकर उत्साहित करें कि
हम तो तुम्हारे मात्र विश्वास है !

असहयोग

उस इतिहास को गढ़ने में
मैं तुम्हारे साथ शरीक नहीं हो सकता,
जिसे तुम थूक से लिखना चाहते हो,
खून से नहीं।

हो सकता है—
तुम्हारी इस यात्रा का भविष्य स्वर्णिम हो,
अलौकिक सुषमा से मंडित हो,
शास्त्रों से समर्थित हो, अ-खण्डित हो,
तुम्हारा स्वागत करने के लिए
इन्द्र के हजार-हजार हाथी आकुल हों,
उन हाथियों के एक-एक दाँत पर आठ-आठ वापियाँ हों,
एक-एक वापी में लाख-लाख कमल हों,
एक-एक कमल में लाख-लाख पंखुड़ियाँ हों,
और एक-एक पंखुड़ी पर
बत्तीस-बत्तीस प्रकार के नाटक दिखानेवाली
दिव्य अप्सराएँ हों,

उसके बाद भी
मैं तुम्हारी इस यात्रा में शामिल नहीं हो सकता,
जो भोगी हुई नहीं है,

जिसने स्वर्गीय प्रलोभन देकर
हमारी आस्थाओं को गुमराह करने की कोशिश की है,
अव्याबाध स्वतंत्रता के नाम पर
बौद्धिक दासता को पनाह देने की कोशिश की है।
और हो सकता है
मेरी यात्रा का अन्त मृत्यु में हो—
सदा-सदा के लिए मर जानेवाली मृत्यु,
लेकिन मैं उन मूल्यों को कैसे नकार सकता हूँ,
जिनको चाहे शास्त्रीय समर्थन नहीं
किन्तु जिन्हें मैंने साँस-साँस खुद जिया है,
अपने प्राणों का अंश देकर
जिनमें प्राण-संचार किया है,
ये पेड़, ये पौधे, ये लताएँ
और इन पर महकने वाले ये फूल
जिनकी मुसकान को तुम गुलाबी मुसकान कहते हो,
क्या यह रक्त-रंजित ही नहीं हैं ?
तुम इस मासूम कली को तोड़कर तो देखो,
क्या इसमें मेरा खून ही संचित नहीं है ?
फिर यदि मैं सदा-सदा के लिए मर भी जाऊँ,
मुझे इसका रंज किंचित् नहीं है।

एक अफवाह : एक प्रतिक्रिया

रह-रहकर घरधरा उठता है रेडियो
किसी ह्वेल की पूछ को फटकार से
कँपकँपा उठे हों जैसे ट्रांसमिशन के सारे यंत्र
सुनाई देती है केवल
नेपथ्य में से आने वाली चीखें-चीत्कारे
 कभी-कभी कुछ अर्थहीन लापरवाह आवाजें,
और अफवाह यह है कि
सचिवालय, आकाशवाणी, रिजर्व बैंक जैसे
 बहु-हड्डियों वाले कलेवरों के आसपास
 इकट्ठे होकर आपस में लड़ रहे है देश-भर के कुत्ते;
अपना-अपना स्वामित्व बताते हुए
 वे एक-दूसरे पर झपट रहे हैं
 एक-दूसरे को नोच रहे है,
दूर-दूर तक वृक्षों की टहनियों पर बैठे
 कौवे और चीलें और गीध
 इस ताक में हैं कि इन कुत्तों से आँख बचाकर
  आज कैसे पिकनिक मनाई जाए,
और एक आतंकपूर्ण क्षण ने दबोच लिया है सारे शहर को,
 जैसे अब यह शहर नही रहा
  एक कब्रगाह बन गया है

हर मकान—जीवित लाशों की एक कब्र
और हर कब्र पर मँडराती हुई प्रेतात्माएँ
जो तर्पण के अभाव में सारे नगराकाश को घेरे हैं
अब हम कैसे इन प्रेतात्माओं का तर्पण कर
वापस उन्हें अपने-अपने स्थानों पर लौटाएँ ?
कैसे गीधों और चीलों और कौवों को दूर भगाएँ ?
कुत्तों को दूर खदेड़कर कैसे उन बहु-हड्डियों वाले
कलेवरों को बचाएँ ?
कब्रगाह के सन्नाटे को तोड़कर कैसे इस शहर को
सड़कों पर दौड़ाएँ-भगाएँ ?
और कब्र को फिर कैसे एक किलकारी भरता घर बनाएँ ?
दरवाजे से निकलना तो बहुत दूर
खिड़की से बाहर झाँकने तक लगी है धाराएँ—
एक सौ चौवालीस, दो सौ अट्ठासी, चार सौ…
और असहाय-से हम
रेडियो की घरघराहट ही सुन सकते हैं केवल
नेपथ्य में से आने वाली चीखें-चीत्कारें,
अर्थहीन आवाजें
और अफवाह है कि
सचिवालय, आकाशवाणी, रिजर्व बैंक जैसे
बहु-हड्डियों वाले कलेवरों के आसपास
इकट्ठे हो गए हैं देश-भर के कुत्ते
लेकिन अभी तक
किसी भी कुत्ते की
हिम्मत नहीं हुई है उन कलेवरों तक जाने की,
शायद वे अभी अपनी टाँगें हिला रहे हैं !

संत्रास

कुछ सताएहुए लोगों ने
एक पूरी पीढ़ी को सताने की कोशिश की है
और जो पीढी बीत गई है
उसको यह बताने की कोशिश की है कि
हम भी तुम्हारे साथ है
बशर्ते कि अगली पीढी को हमें सताने से रोका जा सके।

और उसके लिए तरह-तरह से बदनाम करने की कोशिश की है
उन लोगों ने
उस अगली पीढी के लोगों को
कि उस दिन वे रात-रात-भर चौराहे पर
एक लावारिश लाश के चारों ओर घूम-घूमकर
नाचते-गाते रहे,
जश्न मनाते रहे,
और फिर एक ही घूंट में जाम पर जाम निगलते हुए
एक-दूसरे की औरतें लूट-खोंस कर
अंधे दूहों में घुस गए
दूसरे दिन बड़े सबेरे
अस्पताल के सभी वार्डस्
भ्रूण-हत्या कराने वाली औरतों से खचाखच भरे थे

किन्तु जब डाक्टरों ने इनकार कर दिया
तो उन लोगों के द्वारा
उन औरतों के मुंह में गरम-गरम शीशा उँडेल दिया गया,
अस्पताल की बिल्डिंग को तोड़-फोड़ दिया गया,
और खाकी वर्दीवाले जानवरों के आने से पहले
वे कन्दराओं में जा घुसे
जहाँ आज भी वे रहते हैं,
जानवरों का कच्चा माँस चबाते हैं,
राहगीरों को लूटकर धन इकट्ठा करते हैं,
आसपास के गाँवों से औरतें भगा लाते हैं,
और फिर उनके लिए
कुत्तों की तरह एक-दूसरे पर टूट पड़ते हैं,
और इस प्रकार
इन बीभत्स किंवदंतियों का कोई अन्त नहीं,
न मेरे जन्म से पहले था,
न आज है,
न मरने के बाद भी होगा,
(हम उनके चिरायु होने की कामना करते हैं,
यों किसी भी कामना से उनमें कोई फर्क
आने वाला भी नहीं है)
और इसलिए
कुछ सताए हुए लोग
सतानेवाली पीढ़ी को शिक्षित करने की सोच रहे हैं !

विपर्यास

रंगीन और हसीन रातों के आनन्द में
डूबते-उतराते,
जमुहाई ली तो लगा,
सारे नगर पर एक काली स्याही की परत फैल गई है
चेहरे पर
कपड़ों पर
कमरे की दीवारों पर,
सर्वत्र जैसे कालिख की तहें जम गई हैं,
तो क्या हम रातभर कालिख ही उगल रहे थे ?
रंगीन और हसीन के नाम पर,
एक-दूसरे की कालिख ही निगल रहे थे ?

निराकार कल्पना

एक निराकार कल्पना ने
कितने बेबुनियाद आकारों को जन्म दिया है,
कि सब एक-दूसरे को बदतमीज कहते हैं,
जबकि तमीज का सवाल ही कहाँ उठता है यहाँ !

रोज एक भीड़ जमा होती है,
रोज कानों को बहरा कर देने वाला एक शोरगुल होता है,
और उसके बीच
रोज तेजी से घंटे टनटना उठते हैं
अग्निकुण्ड भभक उठता है भयंकर दैत्य की तरह
और कुछ फूल शहीद हो जाते हैं,

और खून से सने हजारों हाथ जुड़ जाते हैं
फिर एक खून का दुआ माँगते हुए
जो उन्हें करना न पड़े, स्वयं हो जाए,
उन्हें तो मांस और रक्त और चमड़ी से मतलब है,
जो उन्हें मिल जाए;

और गुनाहों के भार से दबे हजारों सिर झुक जाते हैं
फिर नये गुनाहों का भार ढोने का सामर्थ्य पाने के लिए

जो उन्हें करने भी पड़ें,
फिर भी भार महसूस न हो,
उन्हें तो प्रशस्ति-पत्र, विरुदावलियाँ
और फूल-मालाओं से मतलब है,
जो उन्हें मिल जाए;

और खिंची हुई प्रत्यंचा से साष्टांग नम जाते हैं हजारों शरीर
कि उनका फेंका हुआ बाण लक्ष्य-वेध में अचूक हो,
पर जिसकी आवाज नहीं हो,
लक्ष्य में से भी कोई चीख न निकले,
उन्हें तो शिकार से मतलब है, जो उन्हें मिल जाए,

रोज एक कामना होती है,
रोज एक प्रार्थना होती है,
रोज एक अर्चना होती है,
रोज एक आशीर्वाद मिलता है—'तथास्तु'
केवल आँखों का साक्ष्य वहाँ नहीं होता !

बन्दी आकाश

मुक्त आकाश को
प्रासादों, राज-भवनों, अट्टालिकाओं,
        मठों, मन्दिरों, आश्रमों,
झोपड़ियों और कुटीरों में बन्द कर
क्या हमने अपने आपको ही उनमें बन्द नहीं कर लिया है ?

स्वच्छन्द रास्तों को
फर्लांगों, किलोमीटरों और मीलों के पत्थरों,
        गाँवों, कस्बों, नगरों,
प्रान्तों और राष्ट्रों की सीमाओं में बाँधकर
क्या हमने अपनी अप्रतिबन्ध गति को ही नहीं बांध लिया है ?

उन्मुक्त समय को
सेकण्डों, मिनटों, घड़ियों,
दिनों, महीनों, संवत्सरों,
युगों, युगान्तरों और सदियों में कैद कर
क्या हमने अपनी निर्बन्ध जिन्दगी को ही कैद नहीं कर लिया है?

अप्रतिहत विहरने वाली हवा को
रोशनदानों, झरोखों,

चैम्पियनशिप

समय का खिलाड़ी
चाँद के बाल को हाकी से लुढ़काता हुआ
रोज चक्कर लगाता है नीली घासवाले मैदान पर,
धरती पराजित खिलाड़ी की तरह
टुकुर-टुकुर देखती रह जाती है उसके करतबों को;
लेकिन आश्चर्य नहीं—
भारत की तरह वह भी अब बहुत जल्दी खो बैठे,
अपनी विश्व-चैम्पियनशिप !

नई फसल

मछलियों और मुर्गियों की खेती होने लगी है जब से,
अंगूरों और नारंगियों से
नहीं भर पाता है यह मन,
यों इन कलमों में स्वाद भी नहीं रह गया है अब,
कागज़ों में दर्ज करने के सिवा,
आत्म-सुरक्षा का खयाल कितना खोखला होता है ?

कैसे सम्भव है ?

मैं नहीं चाहता था
यह पेड़ लगाया जाए,
वह भी नहीं चाहता था
यह पेड़ लगाया जाए,
फिर भी
हम दोनों ने मिलकर इसको लगाया,
नहीं चाहते हुए भी
हम दोनों ने इसे सींचा,
पाला-पोसा,
और इसे बड़ा होते देखकर
जी भरकर एक-दूसरे को गालियां दीं,
एक-दूसरे को कोसा,

आज जबकि
यह भूमि में गहरे-से-गहरे
अपनी जड़ें फैला चुका है,
और आकाश के एक बड़े भाग को
अपनी शाखाओं और टहनियों से रोक रखा है,
हम चाहते हैं—

इस पर फूल न आए,
फल न आए,
फूलों-फलों पर कोई चोंच न लगाए,
इसके तने को
कठफोड़े, बतोरिये और पवई
अपनी पैनी चोंचों से खोखला न बनाएँ,
गीध, बगुले और चीलें
इस पर बदसूरत घोंसले न बनाएँ,
बच्चे पत्थर फेंक-फेंककर इसे न सताएँ,
और धूप-ताप से बचने के लिए
इसकी छाँह में इकट्ठे होकर पड़ोसी
हमारे दुर्दिनों के बारे में न बतियाएँ,
लेकिन यह सब कुछ अब कैसे सम्भव है ?
कैसे सम्भव है ?

स्टेडियम की भीड़

कुछ महत्त्वाकांक्षी पतंगों ने
जब हमें प्रतिद्वन्द्विता के लिए चुनौती दी है,
फिर यह कैसे संभव है कि
इस प्रतिस्पर्धा से हम अपने को बचा सकें ?

इस अनन्त-अनन्त आकाश में
पंख भर अवकाश हमने जो घेरा है,
इस विशाल भूखंड पर
पैर भर स्थान हमने जो हेरा है,
तुम क्या जानो,
इसके लिए हमने आज तक कितना-कितना संघर्ष किया है;
हमारे कितने-कितने पुरखों ने
इस स्थान को बनाए रखने के लिए
अपना खून और पसीना दिया है
और जब हम
कुछ ऐसी ही नियति के साथ बाँध दिये गए हैं कि
भीड़ को कुहनियों से ढकेलते हुए ही हम आगे बढ़ें,
धक्का-मुक्की से ही टिकट पाएँ,
धक्का-मुक्की से ही चलती बस या रेल को पकड़कर
उसमें बैठने भर स्थान बनाएँ;

और जब हमें लगता है कि
सारा शहर ही घुड़दौड़ का मैदान बना है,
और घोड़ों की जगह जहाँ हमें लाकर खड़ा कर दिया गया है,
और घुड़दौड़ के कोई भी नियम लागू नहीं हैं जहाँ,
दूसरे से आगे न निकल पाने की स्थिति में
हम पीछे से टाँग लगाकर उसे गिरा भी सकते है
गिरे हुए को पैरों से पूरी तरह कुचल भी सकते हैं
साथ निभाने का प्रलोभन देकर
समय पर पीठ में छुरा भी भोंक सकते हैं,
इसके साथ हमें यह भी ऐहसास होता है कि
स्टेडियम में जमा एक बहुत बड़ी भीड़
तालियाँ पीट-पीटकर
हुर्रा-हुर्रा चिल्ला-चिल्लाकर हमें उकसा रही है,
गिर जानेवालों या पिछड़ जानेवालों के साथ
उसकी कोई सहानुभूति नहीं है,
और न ही नियमों का उल्लंघन करनेवालो के प्रति
उसके मन में है आक्रोश,
वह तो आगे निकल आनेवालों का ही स्वागत करती है,
उसी के माथे विजय का सेहरा बाँधती है,
इस स्थिति में
एक लम्बे संघर्ष के बाद
इतनी लम्बी दूरी तय करके हमने जो स्थान बनाया है,
यहाँ आकर फिर इससे हम क्यों कतराएँ ?
तनाव से पूरी तरह ऐंठ गए इस शरीर को
टूटने देने में
यदि हम सहयोगी बनते हैं,
तो आखिर इसमें नुकसान क्या है ?

एक दिन : पाँच अभिव्यक्तियाँ

गोल-गोल इडली-सा
आ गिरा है हमारे सामने लुभावना दिन,
कि हम इसको खाएँ
और अपने पेट की आग बुझाएँ;

उजले कागज के टुकड़े-सा
थमा दिया गया है हमारे हाथ में कोरा दिन,
कि इस पर हम कुछ लिखें—
जो चाहे संदर्भहीन भी क्यों न हो
लेकिन आगे आनेवाली पीढ़ी की दृष्टि में
हम औरों से भिन्न
(चाहे नपुंसक बौने ही) दीखें !

साबुन के झाग-सा
फेंक दिया गया है बाथरूम में एक टुकड़ा दिन,
कि उसकी किरणों को शरीर पर मल-मलकर नहाएँ,
और अपने भोंड़े शरीर को उजला बनाएँ।

टिनोपाल से धुले कपड़े-सा
उछाल दिया गया है एक उजला दिन,

कि उसे पहनकर हम अपने नंगेपन को ढांपें,
अपनी बीभत्सता यदि दूर न भी कर सकते
फिर भी जिसे देखकर कोई सुन्दरता नही करे।

सहमे-सिकुड़े खरगोश-सा
कोने में दुबककर बैठा है डरपोक दिन,
कि हम औरों को एक खामोश जीवन जीने दें,
खुद एक खामोश जीवन जिएँ,
प्रकृति के रंध्र-रंध्र में से झर-झरकर बहने वाले
रस को औरों को पीने दें,
खुद पिएँ।

अहिंसक जो हैं !

उम्र भर
हम अपने कंधों पर
एक बेहोश शरीर ढोते रहे हैं
और अपना पेट पालते रहे हैं
कभी अकाल के नाम पर
कभी बाढ़ के नाम पर
कभी भूकम्प के नाम पर
धर्म और पुण्य के नाम पर
मित्रों की सहायता के नाम पर
प्राण-रक्षा के नाम पर
आत्म-निर्भर होकर उसे कैसे बचा सकते हैं हम ?
अहिंसक जो हैं !

भेदरेखा

खिड़की के सीखचों से रोज देखता हूँ
प्रथम किरण का प्रथम स्पर्श
नीम की पत्तियाँ जैसे सिहर उठती हैं
बरामदे में सोया फूल जैसे हँसता हुआ जाग जाता है,
अपनी ओर उसे सरकते देखकर
अवधूत बने सीखचे
थोड़े-से धैर्य के बाद ही दुर्वासा बन जाते हैं
और किरण पश्चिम की ओट में
शरारत करती हुई भाग जाती है;
खिड़की के सीखचों को पकड़े
घंटों
मैं उदासीन-सा रोज समझने की कोशिश करता हूँ कि
प्यार और संसार की भेद-रेखा कहाँ है ?

यंत्र और षड्यंत्र

सीखचों को पकड़े रोज देखता हूँ,
पहली अलसाई किरण का पहला स्पर्श—
एक ही दिशा में
झपट्टा मारते हुए हजारों भूखे चेहरे
हर कदम में भारीपन, घबराहट, कशिश
और शीघ्रता भरी व्याकुलता
मिल का बिगुल थम नहीं जाए;

सीखचों को पकड़े रोज देखता हूँ
थकी-माँदी-हारी अन्तिम किरण का अन्तिम स्पर्श—
अनेक दिशाओं की ओर
झपट्टा मारते हुए हजारों आतुर चेहरे;
हर कदम में भारीपन, घबराहट, कशिश
और ममता-भरी व्याकुलता—

मिल का बिगुल थम गया है,
परिवार के होंठों पर भूख का कुहरा जम गया है,
ठिठुरती रात अभी सारी बाकी है;

मैं रोज समझने की कोशिश करता हूँ
उन चेहरों को
कल-कारखानों के दिव्य पुर्जों को
कि जड़-यंत्र और चेतन षड्यत्र में क्या अन्तर है ?

क्या मुझे पसन्द नहीं ?

यह लो पंख
यह लो आकाश
गति को बाँधकर मुझसे उड़ा नही जाएगा;
पर चिड़ियों का फुर्र-फुर्र मेरे पास से उड़ जाना
मुझे पसन्द नही।

बीसवी सदी का आदमी मैं
जिस पर घोंसले का प्रतिबन्ध नही,
किसी से ममता का सम्बन्ध नही,
घेरों से बन्द उड़ान-सा जिसका जीवन
जो कभी खुला नही, कभी बन्द नहीं।
इस हालत में
ये लो पंख
यह लो आकाश
मुझसे यों उड़ा नही जाएगा
किन्तु किसी चिड़िया का पास से उड़ जाना
क्या मुझे पसन्द नहीं ?

जिन्दगी

मटमैले पानी में
ट्यूब-लाइट्स से सजी
रँग-बिरँगे फूलों से लदी
सड़कों की परछाइयाँ देखकर
क्या बहक-बहक नहीं उठे थे हम—
कितनी खूबसूरत है जिन्दगी !

मयखानों के टकराते पैमानों में,
बलबों की रँगीनियों में
डूबती-उतराती, कहकहे लगाती
बेभान आकृतियों को देखकर
क्या बहक-बहक नहीं उठे थे हम—
कितनी रस-भरी है जिन्दगी !

दुम दबाकर भागती हुई लोमड़ी की तरह
दिन-भर की दौड़-धूप के बाद
गैरेज से गैरेज तक रेंगने वाली
पागल मोटरकारों को देखकर
क्या बहक-बहक नहीं उठे थे हम—
कितनी गतिशील है जिन्दगी !
क्या सचमुच ऐसी ही है जिन्दगी ?

कब तक ?

सचमुच हम
अपने ही साथ लड़-लड़कर टूट गए हैं,
टूट-टूटकर चकनाचूर हो गए हैं;

दर्पण पर बैठी चिड़िया-से हम,
जो अपनी ही परछाईं को दुश्मन समझकर
उस पर
अपनी ही चोंच मारने को मजबूर हो गए हैं;
कंटीली दीवारों से घिरी
कारावास की कोठरियों-से हम
जो अपने ही बीच दीवारें खींच-खींचकर
अपने से ही दूर हो गए हैं;

बेझिझक गिद्धों की तरह
अपना ही माँस नोचने में
(जिसकी तुम कल्पना तक नहीं कर सकते)
इतने निर्दय-क्रूर हो गए हैं;

क्या पता,
कब तक हमको
यों अपने ही साथ लड़ना होगा—
कब तक ?

सुलगते रहे

सुलगते रहे
आज तक केवल सुलगते रहे
नींद थी आँखों में
पर सोया नहीं गया
और रात-रात-भर सुलगते रहे;

पीर थी दिल में
पर रोया नहीं गया
और बात-बात पर सुलगते रहे;

भार लकड़ी का हो या चन्दन का
ढोया नहीं गया
जीवन भर सुकरात की तरह सुलगते रहे;

मंजिल को ठहराव मानकर छोड़ते गए
और फिर
किसी से लगते रहे

किसी से विलगते रहे,
सुलगते रहे;

किसी को क्या
क्यों सुलगते रहे ?

झुंझलाहट

हम टुकुर-टुकुर देखते रह गए
आकाश गरमा,
        गीला हुआ,
                ठिठुरा
और देखते-देखते उसका कुहासा छंट गया;
पंछी जन्मा,
        खेला-कूदा
                बड़ा हुआ
और डाल पर इधर-उधर फुदकते-फुदकते
                उसका जीवन कट गया;
राहगीरों का झुंड आया
        छाँह तले सुस्ताया
                फिर अपनी-अपनी राहों पर
                        एक-एक बँट गया।
सदियों-से साक्षी हम—
        खड़े-खड़े जिनका मन उचट गया,
                झुंझलाए
क्यों हम किसी की ओर
        देखते रहे,
                आखिर क्यों ?

संशय

खिड़की के सीखचों से रोज देखता हूँ,
सामने के मन्दिर में एक बेतरतीव-सी भीड़
सफेदी से पुते हुए चेहरे
भीतर से उथले, ऊपर संग हरे,
ऊपर से प्यार भरे, भीतर से वहरे
भीतर के संशय, घृणा, धूर्तता को छिपाने के लिए
पहरो पर पहरे
सफेदी के,
पुजारी के,
पैगम्बर के चेहरे !
धड़ाम से गिर पड़ता हूँ मैं
पास की खटिया पर—
दुनिया यों कब तक बनती रहेगी ?

मूड ऑफ

अजीब सनक सवार थी कल
सुबह से ही
उठते ही सबसे पहले
बया के घरौंदे को बाहर फेंक दिया
कचरे के ढेर पर
पड़ोस के बच्चों को इस तरह दुत्कारा
कि वे दूसरी बार मकान की ओर अपना मुंह भी नही करेंगे
घुड़कियों को सुनकर कोई भी द्वार पर नहीं आता
भिखारी भी, अतिथि भी,
घर में सन्नाटा है श्मशान-सा
और सचमुच आज मैं बहुत खुश नहीं हूँ !

लगाव-विलगाव

भूख से तड़प-तड़पकर मरते हुए आदमी,
लाशों के लिए छीना-झपटो करते हुए कुत्ते;
बेचारे गरीब रोते हुए गधे
क्रुद्ध मालिक ने बेगुनाह ही जिनका चारा बन्द कर दिया है
और जिन्होने डर के मारे
सारा घर लीद कर-कर भर दिया है
आफिस—एयर-कंडीसन्ड में
मैं व्यस्त हूँ रात-दिन फाइलों को निपटाने में,
इतिहास की चिन्ता में !
इससे अधिक और क्या लगाव हो सकता है
आदमी का आदमी के साथ ?

विश्व-नीड़

कितना खुश हूँ मैं आज
मिट्टी और घास-फूस का मेरा घरौंदा
नीलाम हो गया है;
मेरा उठना-बैठना, बोलना, देखना, मुसकराना,
कहीं आना-जाना
सब कुछ बदनाम हो गया है
मनचाहा उड़ूंगा अब मैं
भटकती प्रेत-आत्मा की तरह
कोई कैसे नीलाम करेगा मुझे ?
बिना घरौंदे का मैं ?

चरणामृत

मधुवन में
हर पादप के चरणों में हम गिरे,
फिर भी आज तक मन नहीं भरा,
यों चरणामृत का ही अधिकार है हमें,
इनकी शाखाओं, टहनियों,
पत्तों, फूलों और फलों की ओर
देखने की इजाजत नहीं है
और ये हरे-भरे हैं ही इसलिए
क्योंकि
लौ से ऊपर देखने की हमारी आदत नहीं है।

घर की कैद

हर मकान में रखे गए हैं--
रोशनदान, खिड़कियाँ और दरवाजे
चहलकदमी के लिए बरामदे
सामने हरा-भरा लान,
सुरक्षा के नाम पर खींच दिये गए हैं
चारों ओर कँटीले तार,
और ठीक सामने बसा दिये गए हैं
झुग्गी-झोपड़ी वाले कुछ नर-आकार,
ताकि यह महसूस न हो कि
हम कहीं कैद हैं !

छब्बीसवीं वर्षगाँठ पर

व्योम-सा अनन्त विस्तार लिए
जन्म और मृत्यु की उत्ताल तरंगों पर
समय का नियामक मुझे इजाजत दे रहा है—
मैं आज एक लंगर फिर और डाल दूँ

मुड़कर देखता हूँ जब मैं पीछे लहरीले सागर को
केवल लहरों की तोड़-फोड़,
और कुछ भी नहीं,
किनारे को भी मैं बहुत दूर छोड़ आया हूँ
मित्रों को भी, स्वजनों को भी

आज मुझे लगता—
सागर का न आर है न पार है,
केवल मैं हूँ,
नौका है,
माँझी है,
मझधार है
उस पार की जिज्ञासा भी जैसे सो गई है,
पता नहीं क्यों हो गया
अब मझधार से ही प्यार है !

मांझी चाहता—
नाव किनारे पर लग जाए
उन्मन मैं, मिल जाऊँ अपने आत्मीयों से;
चाहता मैं—
कोई भूला-भटका ही तूफान आ जाए,
यह नाव टूट जाए,
सागर में उफान ही आ जाए;

खैर, अभी तो चारों ओर पानी का विस्तार है,
या फिर मैं हूं,
नौका है,
मांझी है,
मझधार है,
मैं खड़ा हूँ छब्बीसवीं बार लंगर डालने के लिए,
सोचता हूँ—
हवाओं का रुख बदल जाए,
इनका क्या एतबार है?

नवीन उद्‌घोषणा

जब भी मैं यह देखता हूँ कि
क्रान्ति की चिनगारी राख के ढेर में दबी जा रही है,
मेरे भीतर की चिनगारी और अधिक तेज भड़क उठती है,
तो क्या तब तक हम
नरक को नकारते हुए भी
यों नारकीय जीवन ही जीते रहेंगे ?
एक दूसरे के स्वतंत्र अस्तित्व की उद्‌घोषणा करते हुए भी
एक-दूसरे का खून ही पीते रहेंगे ?
मुक्त बहने वाली हवा को कैद कर
हमारा अपनी टूटती साँसों को निभाना,
उन्मुक्त हँसने वाले गुलाबों को शेरवानी में खोंसकर
अपनी कुरूपता को ढँकना-सजाना,
किसी मासूम रोशनी को गुलाम बनाकर
अपने अंधे मकानों को रोशन करना—जगमगाना,
और निर्दोष कलियों की खुशियाँ छीनकर
अपने गुनाहों को छिपाना—मुसकराना
यह सब कुछ तब तक यों ही निभता रहेगा ?
हमारा यह अस्तित्व
मात्र रेल की पटरी-सा बिछा रहेगा,
जिसको कि हर कोई बुजुर्गुआ कोच कुचलता हुआ निकल जाए

और हम आपस में फुसफुसा तक नही सके ?
आस्था, समर्पण और ईश्वरीय मूल्यों के आधार पर
हमरा पौरुष तक तब तक बहकता रहेगा,
कि हर कोई सुग्गा जिसे चुगा समझकर निगल जाए
और हम अपने को कृतार्थ मानते रहें ?
अहिंसा, दया और करुणा के नाम पर
क्या हमारी निर्दयता और नृशंसता फलती-फूलती रहेगी,
कि मकड़ी की तरह मनुष्यों को चूसकर फेंकने में
हमें कोई संकोच न हो
पर चीटियों के बिलों पर चीनी डालते रहें ?
फिर उस धर्म की आवाज का मूल्य बना रहेगा,
जो ऊपर से पानी के छींटे देकर
भीतर एक भयंकर आग पालता रहे ?
पता नही, क्रान्ति के नाम से हमें क्यों घृणा है,
जबकि शान्ति का इतिहास केवल वही जिन्दा रह सकता है,
जो खून की स्याही से लिखा होता है।
पानी से लिखे जानेवाले इतिहास पर
आनेवाला जमाना ही नहीं,
इतिहास का एक-एक सफा स्वयं रोता है।

विश्वास का द्वीप

मंजिल तक पहुँचने से पहले
एक लम्बे तकलीफो भरे सफर के बीच
लहरों में उतर गए है हम
छोड़कर सड़ी-गली किश्ती को
टूट-टूटकर बिखर जाने के लिए,
और अब हमें लहरों से लड़ना है,
उफनती आ रही लहरों को तोड़ना ही हमारा काम है
लहरों का टूट जाना ही हमारा विश्राम है,
किन्तु गरजती हुई लहरों के घेरे में
चारों ओर से अपने को घिरा पाकर
मेरे साथियो !
हमें अपनी हिम्मत नही हारना है,
और जब तक ये लहरें अपनी मौत नहीं मर जाती है
हमें एक-एक पत्थर पूरी तरह कस-कसकर मारना है ।
किन्तु सहसा मुझे एहसास होता है,
बिना किन्हीं चट्टानों से
और कानों से टकराए
मेरे शब्द वापस लौट रहे है
और मैं मुड़कर देखता हूँ
मेरे आसपास कोई नही है,

मैं अकेला रह गया हूं
कुछ हिम्मत-पस्त साथी लहरों से हारकर डूब गए हैं
कुछ अपने को बचाते हुए लहरों से
पहुँच गए हैं, तट पर खड़े तमाशबीन लोगों के पास,
और उनको साथ देकर उकसा रहे हैं लहरों को
तालियाँ पीट-पीटकर
हुर्रा-हुर्रा चिल्ला-चिल्लाकर
मुझे परास्त करने के लिए
और तभी मैं अपनी पूरी ताकत के साथ
फिर पत्थर फेंकता हूँ।
फुफकारती हुई अजगर के फन-सी लहरों को तोड़ने के लिए
पर लग रहा है
एक-दूसरे पर रेंगती हुई ये लहरें
एक-दूसरे पर फैलती हुई ये लहरें
जल्दी से टूटनेवाली नहीं हैं
अपने में समन्दर भर-भरकर लानेवाली ये लहरें
केन्द्र से आसानी से छूटनेवाली नहीं हैं
फिर भी मुझे
बिना किसी पराजय की आशंका के
पत्थर फेंकते रहना है
विजय निश्चित मेरी है
मुझे केवल लहरों को तोड़ते रहना है
जब तक पास में पत्थर हैं, फेंकते रहना है
और फिर ?
एक द्वीप बन जाना है !

संघर्ष

जब भी मैं इस सड़क पर से गुजरता हूँ
लम्बी कतार में खड़े दोनों ओर के ऊँचे-ऊँचे मकान
मुझे देखकर
अपना गर्वोन्नित माथा जैसे और ऊँचा करने कीकोशिश करते हैं,
कोठरीनुमा दूकानों में आलापते रेडियो
जैसे और अधिक तेज आवाज से
गीत गुनगुनाने की कोशिश करते हैं,
पास से गुजरनेवाली सजी-सँवरी औरतें
जैसे और अधिक खूबसूरत होने का अभिनय करती हैं,
दुलहिन-सी सजी दूकानों में
गद्दों पर सीना ताने बैठे हुए लोग
जैसे और अधिक अकड़ से मेरी ओर घूरते हैं,
मैं भी
उनसे अधिक गर्वोन्नित अपना माथा ऊँचा करता हूँ
उनसे अधिक तेज आवाज में चीखता हूँ,
अधिक खूबसूरत दीखने के लिए
कोट की कालर और पेंट की स्क्रीज ठीक करता हूं;
अधिक अकड़ के साथ सीना ताने
सबसे हाथ मिलाता हूँ;

और इस प्रकार
समान रूप-रँग
समान स्तर और समान गतिवाले हम
चौराहों पर रोज आपस में टकरा जाते हैं;
फिर परस्पर एक-दूसरे को गाली देते हुए
दूसरे दिन और अधिक तेजी से टकराने के लिए
अपने-अपने गैरेजों में लौट जाते हैं,
रात-भर खरोंचों भरे शरीर को
घायल मन को
अपनी ही जीभ से सहलाते हैं
और दूसरे दिन फिर चौराहों पर टकरा जाते हैं,
कभी खीज और फुफकार कम नहीं
एक-दूसरे के प्रति घृणा और तिरस्कार कम नहीं
फिर भी हम रोज मिलते हैं
बड़े अदब से हाथ मिलाने की कोशिश में
एक-दूसरे का शोषण करते हैं,
खून चूसते हैं
और चीख सुनकर सहानुभूति में आँखें भरते हैं,
ऐसे अपराधों के अपराधी हैं हम
जो न कभी जनमते हैं, न कभी मरते हैं !